

बिहार राज्य और एक अन्य

बनाम

डॉ. असीस कुमार मुखर्जी और अन्य

3 दिसंबर, 1974

[वी.आर. कृष्णा अय्यर, पी.के. गोस्वामी और ए.सी. गुप्ता, न्यायमूर्ति गण]

भारतीय चिकित्सा परिषद अधिनियम, 1956-धारा 2 - शिक्षण संस्थान, शिक्षण,

अनुभव - संदेह के मामलों में परिषद से परामर्श करने के लिए राज्य सरकार के कर्तव्य का

अर्थ - उच्च न्यायालय कैबिनेट के कागजात या अन्य संवेदनशील सामग्री निरीक्षण के लिए

कब मंगवा सकता है - क्या राज्य को नियुक्ति का तर्कसंगत आदेश देना चाहिए।

उत्तरदाता सं 1, अन्य दो व्यक्तियों के साथ, राज्य के सरकारी मेडिकल कॉलेजों में दो व्याख्याता पदों में से एक के लिए उम्मीदवार थे। इस पद के लिए निर्धारित एक महत्वपूर्ण योग्यता थी - “शिक्षण संस्थान में शिक्षण अनुभव”। उत्तरदाता ने पद के लिए निर्धारित अन्य शैक्षणिक योग्यताएँ पूरी कर ली थीं। राज्य सरकार ने उत्तरदाता सं 1 का यह दावा ठुकरा दिया कि उसने यूनाइटेड किंगडम में कार्य करते हुए आवश्यक शिक्षण अनुभव प्राप्त किया है, और इसलिए उसे व्याख्याता के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए। उत्तरदाता सं 1 ने अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय में विनिर्दिष्ट आदेश याचिका दायर की। उच्च न्यायालय ने सरकार के निर्णय को अभिखंडित कर दिया और उसे उत्तरदाता के मामले पर पुनर्विचार करने का निर्देश दिया। सरकार ने मामले की नवीन समीक्षा की और फिर से पाया कि उत्तरदाता इस पद के लिए अयोग्य है। उत्तरदाता सं 1 ने सरकार के निर्णय को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय का पुनः रुख किया। इस बार, उच्च न्यायालय ने कैबिनेट पत्र, तकनीकी और प्रशासनिक प्रतिवेदन और अधिकारियों की टिप्पणियाँ देखीं और फिर से सरकार के निर्णय को अभिखंडित कर दिया। अपीलकर्ता और उत्तरदाता दोनों ने उच्च न्यायालय के इस निर्णय के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर की।

राज्य की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि "शिक्षण संस्थान" में "शिक्षण अनुभव" के लिए नियमन द्वारा दर्शाया गया अनुभव भारत में होना चाहिए, न कि किसी विदेशी देश में; यह मानते हुए भी कि ब्रिटिश मेडिकल संस्थान नियमन के दायरे में आते हैं, उत्तरदाता सं 1 द्वारा रखा गया निबंधक पद ऐसा पद नहीं था जिसमें शिक्षण अनुभव माना जा सके; उत्तरदाता सं 1 ने जिन अस्पतालों और विश्वविद्यालयों में कार्य किया, उन्हें शिक्षण संस्थान के रूप में साबित नहीं किया गया; और उत्तरदाता द्वारा प्रस्तुत प्रमाण-पत्र विश्वसनीय नहीं थे।

राज्य के अपील को खारिज करते हुए

अभिनिर्धारित: (1) (क) प्रथम उत्तरदाता के मामले पर कानूनी दृष्टिकोण से विचार नहीं किया गया। 1974 का सी.ए. 1431 में अपीलक के नियुक्ति आदेश कानूनी रूप से अवैध थे। 1974 का सी. ए. 1430 में अपीलकर्ताओं को निर्देश दिया जाता है कि वे दो व्याख्याता पदों के लिए नियुक्तियों पर पुनः विचार करें। सरकार स्वतंत्र है कि निर्णय लेने से पहले अपनी तकनीकी विशेषज्ञ समितियों से परामर्श करे। प्रथम उत्तरदाता को यह स्वतंत्रता है कि वह राज्य सरकार को अपने योग्यता (या अन्यथा) सिद्ध करने के लिए आवश्यक प्रमाण प्रस्तुत कर सके। [905 जी-ए]

(ख) जबकि 'चिकित्सा संस्थान' और 'अनुमोदित संस्थान' शब्द चिकित्सा परिषद अधिनियम 1956 की धारा 2 में परिभाषित हैं, वहीं 'शिक्षण अनुभव' या 'शिक्षण संस्थान' को अधिनियम में परिभाषित नहीं किया गया है। यह स्वाभाविक है कि राज्य सरकार जैसे किसी भी प्राधिकरण से, चिकित्सा स्थिति के संदर्भ में प्रयुक्त इन शब्दों की व्याख्या करने के लिए कहे जाने पर, संदेह होने पर, वैधानिक दर्जा प्राप्त उच्च पेशेवर प्राधिकरण, अर्थात् भारतीय चिकित्सा परिषद से परामर्श करने की अपेक्षा की जाए। [900 एफ-एफ]

इस मामले में कहा गया है कि राज्य सरकार ने भारतीय चिकित्सा परिषद से परामर्श न करने का नीतिगत निर्णय लिया क्योंकि एक बार चिकित्सा परिषद ने एक राय दी थी

लेकिन बाद में उसमें थोड़ा संशोधन कर दिया था। यद्यपि राज्य के आरोपों को साबित करने के लिए अभिलेख में कुछ भी नहीं है, यदि यह सच है कि राष्ट्रीय तकनीकी निकाय महत्वपूर्ण अवसरों पर अस्थिर थे, तो इससे दबाव के कारण निर्णय लेने का संदेह पैदा होता है। जबकि नियुक्ति प्राधिकारी राज्य सरकार हैं और अंतिम चयन की जिम्मेदारी निहित है इसमें, विवाद के मुद्दे तकनीकी प्रकृति के होने पर उच्च तकनीकी स्तर के निकायों या अधिकारियों से परामर्श करना उचित है, [900 जी-एच]

(ग) विदेश में स्थित शिक्षण संस्थाओं को खारिज नहीं किया जा सकता। इसलिए उन संस्थाओं को सक्षम और गुणवत्तापरक रूप से स्वीकार्य मानना उचित है, जो अनुसूची II और अनुसूची III में सूचीबद्ध विश्वविद्यालयों और संगठनों से जुड़ी हों या उन द्वारा मान्यता प्राप्त हों और जो केंद्रीय सरकार द्वारा अनुच्छेद 14 के अंतर्गत मान्यता प्राप्त हों। यदि शिक्षण संस्थाओं की परिभाषा को पूरी दुनिया में फैला दिया जाए तो यह बहुत व्यापक हो सकती है, लेकिन भारतीय चिकित्सा परिषद अधिनियम, 1956 के संदर्भ में इसे उन संस्थाओं तक सीमित किया जा सकता है, जिन्हें स्पष्ट रूप से इस अधिनियम के प्रावधानों में शामिल किया गया है। यदि ये संस्थाएँ अनुच्छेद 12, 13 और 14 के महत्वपूर्ण उद्देश्यों के लिए पर्याप्त हैं, तो यह तर्कसंगत रूप से माना जा सकता है कि वहां से प्राप्त शिक्षण अनुभव को भी पर्याप्त और स्वीकार्य अनुभव माना जा सकता है।

(घ) प्रथम उत्तरदाता को यह सिद्ध करना होगा कि जिन संस्थानों में उसने कार्य किया है, वे ऊपर वर्णित श्रेणियों के अंतर्गत आते हैं। प्रथम दृष्टया यह संदेह करने का कोई कारण नहीं है कि उसके द्वारा प्रस्तुत प्रमाण पत्र मनगढ़ंत हैं। जब तक इसके विपरीत सिद्ध न हो जाए, उन्हें सद्भावनापूर्वक कार्य करने वाले सार्वजनिक प्राधिकरण द्वारा उनके मूल अर्थ में स्वीकार किया जाना चाहिए। [902 ई]

(ङ) प्रोफेसरों द्वारा जारी प्रमाण पत्रों से यह स्पष्ट है कि प्रथम उत्तरदाता, जिन्होंने तीन वर्षों तक निबंधक के रूप में कार्य किया, ने अध्यापन कार्य किया था। अभिलेख में छह

प्रमाण पत्र मौजूद हैं जिनमें यह उल्लेख है कि प्रथम उत्तरदाता ने निबंधक के रूप में अध्यापन कार्य में भाग लिया था। जब तक सत्यता के विरुद्ध कोई गंभीर परिस्थितियाँ न हों, निष्पक्ष प्रशासक विशेषज्ञ परामर्श के बाद इन प्रमाण पत्रों पर अवलम्बन कर सकते हैं।
[1902 एफ-जी]

(च) हालांकि यह तर्क स्वीकार करना कठिन है कि 'सहायता करना' या 'भाग लेना' 'वास्तविक शिक्षण' से भिन्न है, लेकिन इस पर अंतिम निर्णय देना न्यायालय का काम नहीं है, क्योंकि यह मामला मूल रूप से तकनीकी है। इन मामलों का निर्णय नियुक्ति प्राधिकारी द्वारा किया जाना है।[903 बी]

(2) सरकार का यह कर्तव्य था कि वह उचित तथ्यों के आधार पर संतुष्ट हो कि (क) प्रथम उत्तरदाता द्वारा जिन यू.के. के अस्पतालों पर अवलम्बन किया गया है, वे शिक्षण संस्थान हैं; (ख) निबंधक के पद पर उन्होंने तीन वर्षों तक कार्य किया, जिसमें शिक्षण कार्य शामिल थे, और इस प्रश्न को निष्पक्ष रूप से देखा जाना चाहिए, न कि 'शिक्षण में भाग लेना' जैसे शब्दों पर सूक्ष्म तर्क-वितर्क और बहस के माध्यम से; (ग) किसी भी ब्रिटिश या भारतीय अस्थि रोग विशेषज्ञ प्रोफेसर के प्रशंसापत्र या लिखित गवाही को उसके मूल रूप में स्वीकार किया जाएगा, सिवाय उन मामलों के जहां ऐसे दस्तावेजों पर गंभीर संदेह हो, और स्पष्ट विपरीत संकेतों के अभाव में उच्च पदस्थ शिक्षाविदों को सत्यनिष्ठ माना जाएगा; (घ) प्रथम उत्तरदाता के भारतीय अनुभव, यदि कोई हो, पर भी ध्यान दिया जाएगा, बशर्ते कि यह विनियमों में निहित दोहरे परीक्षणों को पूरा करता हो। इस मामले में, राज्य ने प्रारंभिक जांच के माध्यम से प्रथम उत्तरदाता को अपास्त कर दिया है। [904 एच:905 ए-बी]

(3) जब उत्प्रेषण रिट दायर की जाती है, तो न्यायालय के पास अभिलेख मंगवाने का अधिकार होता है, लेकिन ऐसे मामलों में जहां दुर्भावना का आरोप नहीं लगाया गया हो या अन्य विशेष परिस्थितियां बताई गई हों, सरकार के पास मौजूद संवेदनशील सामग्री को आमतौर पर नहीं मंगवाया जा सकता है। न्यायालय की शक्ति व्यापक है, लेकिन इसका

प्रयोग न्यायिक और विवेकपूर्ण तरीके से, सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए, जिसमें प्रत्येक असंतुष्ट पक्ष को सरकारी फाइलों में ताक-झांक करने का अवसर मिलने की अनुचितता भी शामिल है। सार्वजनिक प्राधिकरणों के कार्य सामान्यतः सार्वजनिक जांच के योग्य होने चाहिए और उन्हें संदिग्ध गोपनीयता में नहीं छिपाया जाना चाहिए। इस मामले में उच्च न्यायालय को कैबिनेट दस्तावेजों और पुराने अभिलेखों की जांच करने की आवश्यकता नहीं थी।[903 डी-ई]

(4) यद्यपि राज्य के लिए नियुक्ति का आदेश देना हमेशा तर्कसंगत होना आवश्यक नहीं है, फिर भी नियमों से संबंधित प्रासंगिक कारण आदेश का आधार होने चाहिए। इसके अलावा, संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 में निहित 'समान अवसर' के अधिकार में प्रत्येक योग्य उम्मीदवार पर विचार करने का दायित्व निहित है। यदि आवेदक नियमों के अनुसार पात्र है तो उसे पूरी तरह से विचार से बाहर करना अवैध है, और तुलनात्मक मूल्यांकन से इनकार करने जैसे कठोर कदम के लिए, अर्थात् किसी प्रतियोगी को प्रतियोगिता से बाहर करने के लिए, स्पष्ट कारण अभिलेख में दर्ज होने चाहिए। [904 डी-ई]

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार - 1974 का दीवानी अपील सं 1430 और 1431

पटना उच्च न्यायालय के दिनांक 22 नवंबर, 1973 के निर्णय एवं आदेश से, 1973 के सी.डब्ल्यू.जे.सी. संख्या 423 और 430

अपीलकर्ताओं और उत्तरदाता संख्या 2 और 3 की ओर से जगदीश स्वरूप, बरजेश्वर मल्लिक, चंद्रेश्वर झा और प्रमोद स्वरूप उपस्थित हुए (सीए संख्या 1430/74 में)।

अपीलकर्ताओं और उत्तरदाता संख्या 2-4 की ओर से आर. के. गर्ग और प्रमोद स्वरूप (सीए संख्या 1431/74 में)

उत्तरदाता संख्या 1 के लिए बी.सी. घोष, एस.बी. सान्याल और ए.के. नाग (सीए संख्या 1430 और 1431/74 में)।

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर द्वारा सुनाया गया।

हम इस निर्णय की शुरुआत एक प्रारंभिक समाजशास्त्रीय टिप्पणी से कर सकते हैं। 'शिक्षण अनुभव' और 'शिक्षण संस्थान' जैसे दो सामान्य अर्थों को एक शाही ढांचे में ढालकर, तीन वर्षों तक चले मुकदमे के दौरान गहन विश्लेषण और जांच के माध्यम से बिहार के दो सरकारी मेडिकल कॉलेजों में अस्थि रोग विशेषज्ञ के व्याख्याता का पद पाने के लिए एक प्रतिभाशाली अस्थि रोग विशेषज्ञ सर्जन और उनके जैसे दो प्रतिद्वंद्वियों के बीच इस कड़वे संघर्ष को गढ़ा गया है। हमारा न्यायिक हस्तक्षेप इस लंबे और खर्चीले कानूनी संघर्ष से हुए सामाजिक आघात को दूर नहीं कर सकता। यदि कानून का चिकित्सीय मूल्य स्थायी रहे और नष्ट न हो, तो प्रणाली में अनुसंधान और सुधार की आवश्यकता है।

विशेष अनुमति से हमारे समक्ष प्रस्तुत दो अपीलें एक संगीत कुर्सी जैसी स्थिति को उजागर करती हैं, जहां तीन उम्मीदवारों ने पटना और दरभंगा सरकार चलित मेडिकल कॉलेजों में दो पदों के लिए चुनाव लड़ा। अनिवार्य रूप से एक उम्मीदवार हार गया या, बल्कि, अयोग्य घोषित कर दिया गया, भले ही उसके पास ब्रिटिश कार्य और अनुभव था। अपनी इस हार से आहत होकर, डॉ. मुखर्जी ने एक विनिर्दिष्ट आदेश याचिका के माध्यम से पूरी चयन प्रक्रिया को चुनौती दी, जिसका संक्षिप्त और महत्वाकांक्षी आधार यह था कि वह न केवल योग्य थे, बल्कि अपने शानदार ब्रिटिश करियर के कारण भारत में प्रशिक्षित अन्य दो उम्मीदवारों, डॉ. राम और डॉ. जमुआर से श्रेष्ठ थे, लेकिन उन्हें अवैध रूप से अयोग्य घोषित कर दिया गया।

राज्य के अधिवक्ता द्वारा, अन्य उम्मीदवारों के लिए श्री गर्ग के समर्थन से, हमारे समक्ष उठाया गया मुख्य मुद्दा यह है कि उच्च न्यायालय ने, जिसने विनिर्दिष्ट आदेश याचिका को स्वीकार किया, संबंधित कैबिनेट दस्तावेजों की अनुचित जांच करके और सरकार के नियुक्ति आदेशों को अभिखंडित करके, याचिकाकर्ता की पात्रता को बरकरार रखते हुए, सभी दावेदारों के दावों पर पुनर्विचार का निर्देश देकर त्रुटि की है। यह पुनर्विचार कुछ अनुचित तथ्यों और कानून की अनुचित व्याख्या पर आधारित था। क्या याचिकाकर्ता के पास पद के

लिए निर्धारित योग्यताएं थीं? यदि थीं, तो उच्च न्यायालय ने नियुक्ति प्राधिकारी को उनके दावों पर विचार करने का निर्देश देकर सही किया; और यदि नहीं थीं, तो सरकार ने उनके प्रभावशाली ब्रिटिश प्रमाण पत्रों और अच्छे प्रदर्शन के बावजूद, उन्हें अयोग्य मानकर पद के लिए उनकी योग्यताओं को सही ढंग से नजरअंदाज किया। अन्यथा यही इस विवाद की परिधि है, जो मूलतः एक तकनीकी प्रश्न है; तथापि, हमारी प्रणाली के अंतर्गत इसका निर्णय न्यायालयों द्वारा विशेषज्ञ परामर्श की सहायता के बिना किया जाना आवश्यक है।

इस वाद में अपील के अभिलेखों के तीन भारी-भरकम खंडों के आधार पर तीन दिनों तक बहस हुई—जो कि उच्च न्यायालय में हुई आठ दिनों की सुनवाई की तुलना में सौभाग्यवश कम थी। न्यायालयिक प्रयोगशाला समय की अत्यधिक खपत, वाद-विवाद पर हुआ पर्याप्त व्यय, तथा तीन युवा विशेषज्ञ चिकित्सकों की उपयोगी चिकित्सकीय ऊर्जा का तीन वर्षों तक दो चरणों में विनिर्दिष्ट आदेश कार्यवाहियों में विचलित होना—ये सभी उस सामाजिक मूल्य की भारी कीमत हैं, जो समुदाय को चुकानी पड़ी। यह सब उस तथ्य को उद्धाटित करने के लिए हुआ कि न्यायालय, जिन्हें विधि में प्रशिक्षित किया गया है न कि चिकित्सा में, को वास्तविक शिक्षण-अनुभव की प्रकृति तथा भारतीय सीमाओं से परे स्वीकृत शिक्षण संस्थानों के नामों जैसे विषयों में प्रवेश करने के लिए बाध्य किया गया। आक्षेपित प्रश्न यह है कि क्या विनिर्दिष्ट आदेश याचिकाकर्ता—एक चिकित्सक, जिसने ब्रिटेन में कथित रूप से अत्यंत प्रतिष्ठित अस्थि रोग विशेषज्ञ प्रोफेसरों के अधीन अस्पतालों में कार्य किया—को भारतीय विधि तथा पटना कॉलेज के प्रयोजनों के लिए पर्याप्त एवं उपयुक्त शिक्षण संस्था में शिक्षण-अनुभव प्राप्त था या नहीं। ओलंपिक टीम के चयन से लेकर अस्थि रोग विशेषज्ञता तक, हमारे तंत्र के अंतर्गत न्यायिक पदाधिकारियों से निर्णायक (अंपायर) की भूमिका निभाने की अपेक्षा की जाती है। भले ही न्यायाधीश देवदूत ही क्यों न हों, क्या उन्हें वहाँ पग रखने से संकोच नहीं करना चाहिए जहाँ संभवतः अन्य लोग उतावले होकर प्रवेश कर जाते हैं?

यह भी समान रूप से विचलित करने वाला है कि भारतीय न्यायालयों को, कुछ अन्य आधुनिक न्यायिक प्रणालियों के विपरीत, सरल या संक्षिप्त प्रकृति के विवादास्पद मुद्दों का निर्णय करने के लिए भी मौखिक बहसों में अत्यधिक समय व्यय करना पड़ता है। संक्षिप्त प्रस्तुतियाँ, संकुलित लिखित तर्क—जो कुछ विदेशी न्यायक्षेत्रों में प्रचलित हैं—तथा अन्य सुधार, आवश्यक संशोधनों के साथ, संभवतः हमारी विधिक प्रवृत्ति के अनुकूल हो सकते हैं। उच्च न्यायालयों में, हल्की अतिशयोक्ति के साथ, यह कहा जा सकता है कि “समय अपनी अविराम गति से बहता रहता है” और प्रायः “छोटी मछलियाँ भी... व्हेल की तरह बातें करती हैं।” मौखिक बहसों की लंबाई तथा दीर्घ निर्णयों को न्याय की पवित्र सुरक्षा-कवच मानने की अंध-श्रद्धा, सामाजिक समस्याओं के समाधान में विधि की प्रभावशीलता के प्रतिकूल सिद्ध हो सकती है और इस प्रकार विधिक न्याय की अंतिम न्यायसंगतता को भी कम कर सकती है।

अन्य जटिल आधुनिक प्रक्रियाओं की भाँति, विधिक न्याय की प्रक्रियाएँ भी प्रबंधन तकनीकों, पद्धतिगत सुधारों तथा सफल संचालन हेतु कार्य-क्षेत्र की स्पष्ट परिभाषा की अपेक्षा करती हैं। ये सभी विषय समान रूप से पीठ और अधिवक्ता वर्ग तथा व्यापक रूप से समुदाय की सार्वजनिक चिंता के विषय होने चाहिए, जिन्हें समय और व्यय में कमी लाने तथा न्याय को सार्थक रूप से सुनिश्चित करने के सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित होना चाहिए। ये टिप्पणियाँ, प्रसंगवश की गई हैं, जो उस जटिल और दुरूह वाद-प्रक्रिया से उद्भूत हैं, जिसमें यहाँ के पक्षकार उलझे हुए हैं, तथा उन प्रवृत्त घटनाओं से भी, जिनका यह प्रतिनिधित्व करती है।

उच्च न्यायालय के समक्ष याचिकाकर्ता, डॉ. मुखर्जी, हमारे समक्ष विचाराधीन दोनों अपीलों में प्रथम उत्तरदाता हैं, जबकि बिहार राज्य, स्वास्थ्य आयुक्त तथा स्वास्थ्य मंत्री, दीवानी अपील संख्या 1430 सन् 1974 में अपीलकर्ता हैं। जिन पराजित चिकित्सकों डॉ. राम एवं डॉ. जमुआर की नियुक्तियाँ उच्च न्यायालय द्वारा निरस्त कर दी गई थीं, वे संबद्ध दीवानी अपील संख्या 1431 सन् 1974 में अपीलकर्ता हैं।

विवाद इस प्रश्न पर केंद्रित है कि क्या प्रथम उत्तरदाता को नियुक्ति हेतु विचार किया जा सकता था। कुछ गौण तर्कों को छोड़कर, विवाद का मूल प्रश्न यही है। डॉ. मुखर्जी द्वारा अस्थि रोग अथवा उससे संबद्ध विषयों में किसी शिक्षण संस्था में कम से कम तीन वर्षों तक निबंधक के रूप में शिक्षण अनुभव प्राप्त किए जाने का प्रश्न विचाराधीन है। अन्य मूलभूत अर्हताएँ, जो विधिक रूप से अपेक्षित हैं, यह निर्विवाद है कि वे उनके पास विद्यमान हैं। प्रथम दृष्टया यह प्रतीत होता है कि उन्होंने प्रतिष्ठित ब्रिटिश अस्थि रोग विशेषज्ञ शल्य चिकित्सकों के अधीन तीन वर्षों तक कार्य किया है। तथापि, किसी वैधानिक परिभाषा के अभाव में, हमें इस अनुभव की पर्याप्तता के संबंध में, प्रासंगिक विनियमों की कसौटी पर, निर्णय देना आवश्यक हो जाता है। सामान्य बुद्धि यह संकेत करती है कि ऐसे तकनीकी प्रश्नों को, स्पष्ट या दुर्भावनापूर्ण मामलों को छोड़कर, न्यायिक हस्तक्षेप से परे रखा जाना चाहिए। इन विशिष्टीकृत क्षेत्रों में विधिक उपकरण सदैव प्रभावी नहीं होते; तथापि, हमें सरकार के आदेश की वैधता का निर्णय करने का दायित्व सौंपा गया है और उसी के अनुसार हम ऐसा करेंगे। भारत के संविधान का अनुच्छेद 226 एक सार्वत्रिक उपचार के रूप में विकसित हो गया है, किंतु न्यायिक पदधारी सर्वज्ञ नहीं होते। संपूर्ण प्रकरण का निस्तारण इस बात पर निर्भर करता है कि “शिक्षण संस्था में शिक्षण अनुभव” शब्दसमूह की सटीक व्याख्या किस प्रकार की जाए, जो कि भारतीय चिकित्सा परिषद अधिनियम, 1956 की धारा 33 के अंतर्गत चिकित्सा परिषद द्वारा निर्मित विनियमों में प्रयुक्त हुआ है (जिन्हें आगे संक्षेप में “विनियम” तथा “अधिनियम” कहा गया है)।

इस अधिनियम के तहत भारतीय चिकित्सा परिषद नामक एक वैधानिक निकाय का गठन किया गया है, जिसे तकनीकी और व्यावसायिक जिम्मेदारियाँ सौंपी गई हैं। धारा 33 के तहत परिषद को भारत सरकार की स्वीकृति से चिकित्सा महाविद्यालयों में शिक्षण और संबद्ध पदों पर नियुक्ति के लिए आवश्यक योग्यताओं को निर्धारित करने वाले नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। यह सर्वविदित है कि हम ऐसे दो चिकित्सा महाविद्यालयों और

ऐसे दो पदों से संबंधित हैं। प्रासंगिक नियम के अनुसार, अस्थि रोग विभाग में व्याख्याता के पद के लिए, किसी शिक्षण संस्थान में शिक्षण अनुभव अनिवार्य है। (हम 'शिक्षण संस्थान' शब्द को हटाने के प्रस्तावित बदलाव को अनदेखा कर रहे हैं)। लेकिन 'शिक्षण अनुभव' क्या है? 'शिक्षण संस्थान' क्या है? यह इतना सरल प्रश्न है कि इसका उत्तर देना शायद उचित न लगे; लेकिन जब इसकी गहन जांच की जाती है, तो यह इतना जटिल हो जाता है कि उच्च न्यायालय द्वारा 59 पृष्ठों से कम में और इस न्यायालय में कुछ घंटों की बहस से कम में इसका निस्तारण करना संभव नहीं है। कानूनी भाषा सरल दिखने वाली बात को जटिल बना देती है।

अब आगे के तथ्यों और कानूनी पहलुओं पर आते हैं। बिहार सरकार ने अस्थि रोग विशेषज्ञ के लिए व्याख्याता नियुक्त करते समय यह राय व्यक्त की कि प्रथम उत्तरदाता के पास किसी शिक्षण संस्थान में आवश्यक शिक्षण अनुभव नहीं था, जिसके बाद उन्होंने उच्च न्यायालय के विनिर्दिष्ट आदेश क्षेत्राधिकार का सहारा लिया और 1972 का सी.डब्ल्यू.जे.सी. वाद संख्या 754 दायर की जिसमें यह तर्क दिया गया कि उन्होंने यूनाइटेड किंगडम में काम करने के दौरान आवश्यक शिक्षण अनुभव प्राप्त कर लिया था और इसलिए वे व्याख्याता नियुक्त होने के पात्र थे। राज्य ने कई आधारों पर इस चुनौती का सामना किया। अन्य बातों के अलावा, उसने तर्क दिया कि नियम किसी विदेशी देश में प्राप्त शिक्षण अनुभव को मान्यता नहीं देता है। स्वास्थ्य सेवाओं के उप निदेशक द्वारा 14 अप्रैल, 1963 को जारी एक परिपत्र का भी सन्दर्भ दिया गया। हम उच्च न्यायालय (अपने निर्णय के अनुच्छेद 24 के अनुसार) से सहमत हैं कि उक्त परिपत्र, यद्यपि सरकार द्वारा 13 जुलाई, 1972 को अपनाया गया था, वास्तविक शिक्षण अनुभव के महत्वपूर्ण मुद्दे पर कोई प्रभाव नहीं डालता है। हालांकि, न्यायालय ने सरकार के निर्णय को अभिखंडित कर दिया और उसे पहले उत्तरदाता के मामले के साथ-साथ अन्य दो के मामलों पर पुनर्विचार करने का निर्देश दिया। सरकार ने न्यायालय के निर्देश के अनुपालन में मामलों की नए सिरे से जांच की, लेकिन फिर भी

उच्च न्यायालय ने पहले उत्तरदाता की योग्यता के विरुद्ध निर्णय दिया। प्रथम उत्तरदाता, जो कि असंतुष्ट था, पुनः उच्च न्यायालय में गया और दूसरी बार उसे यह सफलता मिली कि आदेश को अभिखंडित कर दिया गया और राज्य को आदेशित किया गया कि वह डॉ. मुखर्जी, प्रथम उत्तरदाता के दावे पर विचार करे और यह पाया कि उनके पास आवश्यक अनुभव विद्यमान है। इस प्रक्रिया में उच्च न्यायालय ने कैबिनेट के पत्रक, अन्य प्रतिवेदन तथा अधिकारियों की तकनीकी और प्रशासनिक टिप्पणियों को मंगवाया और उनका परीक्षण किया। विफल उम्मीदवार और असंतुष्ट राज्य ने इस निर्णय के विरुद्ध दो अपीलें दायर की हैं, जो निम्नलिखित सिद्धांतात्मक आधारों पर आधारित हैं:

- (i) यह कि विनियमों में विचारित शिक्षण संस्थाओं में प्राप्त शिक्षण अनुभव भारत में होना चाहिए, न कि विदेश में। यदि यह मान्य माना जाए, तो प्रथम उत्तरदाता का दावा समाप्त हो जाएगा, क्योंकि इस संबंध में उनकी योग्यताएँ इंग्लैंड में प्राप्त की गई थीं।
- (ii) इंग्लैंड में डॉ. मुखर्जी द्वारा संभाले गए निबंधक पद में शिक्षण को अपने कर्तव्यों में शामिल बताया नहीं गया था, अतः उस पद पर कार्यकाल की लंबाई “शिक्षण अनुभव” सिद्ध नहीं करती, भले ही यह मान लिया जाए कि ब्रिटिश चिकित्सा संस्थाएँ विनियमों के दायरे में आ सकती हैं।
- (iii) किसी भी दृष्टिकोण से, वे अस्पताल और विश्वविद्यालय जिनसे डॉ. मुखर्जी जुड़े थे, न तो भारतीय चिकित्सा परिषद द्वारा मान्यता प्राप्त शिक्षण संस्थाएँ सिद्ध हुए और न ही ब्रिटिश राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम के प्रावधानों के तहत ऐसे माने गए।
- (iv) प्रथम उत्तरदाता द्वारा प्रस्तुत प्रमाण-पत्र या कम से कम उनमें से कुछ, भरोसेमंद नहीं थे और बिना अतिरिक्त प्रमाण के, उनके भीतर वर्णित सामग्री के प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किए जा सकते।

कुछ अन्य तर्क भी प्रस्तुत किए गए, जैसे सापेक्ष वरिष्ठता या शिक्षण सेवा की अवधि तथा संबंधित मामले, जो वर्तमान प्रकरण में विचाराधीन मुद्दे के निर्धारण से सीधे संबंधित नहीं हैं। संभव है कि ऐसे विचार तब प्रासंगिक हों, जब नियुक्तिकर्ता प्राधिकरण उम्मीदवारों के बीच तुलनात्मक मूल्यांकन करे। श्री जगदीश स्वरूप द्वारा प्रस्तुत यह तर्क कि राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम, 1946 में शिक्षण और गैर-शिक्षण अस्पतालों के बीच द्वैत किया गया है, वैध नहीं ठहरता। यह सत्य है कि उस अधिनियम की धारा 11(8) के अंतर्गत स्वास्थ्य मंत्री को अधिकार प्राप्त है कि वह किसी भी अस्पताल या अस्पतालों के समूह को शिक्षण अस्पताल के रूप में नामित कर सके, यदि उसे ऐसा प्रतीत हो कि वे किसी विश्वविद्यालय के लिए स्नातक या स्नातकोत्तर चिकित्सीय शिक्षण की सुविधाएँ प्रदान करते हैं। हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह निर्धारित किया जा सके कि जो अस्पताल ऐसे नामित नहीं किए गए, वे शिक्षण सुविधाएँ प्रदान करते हैं या नहीं, और न ही यह कि मंत्री अपने अधिकार का प्रयोग करते समय किन मानदंडों और उद्देश्यों का पालन करते हैं। निश्चित रूप से, यदि वह अस्पताल जिसमें प्रथम उत्तरदाता ने कार्य किया, मंत्री के अधिसूचना के अंतर्गत आता, तो यह उनके पक्ष में मामला साबित करने में सहायक होता। परन्तु इसका विपरीत परिणाम अनिवार्य नहीं है। हम भारतीय परिस्थिति से संबंधित हैं और ऐसे शब्दों की व्याख्या करने के लिए जिम्मेदार हैं, जो परिभाषित नहीं हैं और इसलिए उन्हें उनके प्राकृतिक अर्थ के अनुसार समझना आवश्यक है। अर्थ. इस दृष्टिकोण से हम यह जांच नहीं करते कि क्या अस्पताल जिनमें प्रथम उत्तरदाता ने शिक्षण अनुभव प्राप्त करने का दावा किया है, ब्रिटिश अधिनियम की धारा 11 (8) के तहत निर्दिष्ट श्रेणी से संबंधित हैं।

भारतीय अधिनियम की धारा 3 स्पष्ट करती है कि एक उच्चस्तरीय परिषद का गठन और उसकी संरचना, जिसमें पेशेवर व्यक्तियों को परीक्षा संचालन की निगरानी करने और चिकित्सा शिक्षा के न्यूनतम मानकों को सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है,

अधिनियम के उद्देश्यों में शामिल है। परिषद के पास व्यापक अधिकार हैं, जिनमें कुछ महत्वपूर्ण मामलों में परामर्शदाता की भूमिका और भारत में स्थापित संस्थाओं द्वारा प्रदान की गई चिकित्सा योग्यताओं को मान्यता देना (धारा 11), उन देशों में मान्यता देना जिनके साथ पारस्परिकता की योजना है (धारा 12), तथा अन्य कुछ संस्थाओं द्वारा प्रदान की गई डिग्रियों आदि को मान्यता देना (धारा 13) शामिल है। ये तीन श्रेणियाँ चिकित्सा संस्थाओं की अधिनियम की अनुसूचियों एक से तीन तक में शामिल हैं। धारा 14 अन्य विदेशी देशों द्वारा प्रदान की गई चिकित्सा योग्यताओं को भारत सरकार द्वारा मान्यता देने से संबंधित है, परिषद से परामर्श करने के पश्चात्। निरीक्षण, जानकारी एकत्र करना, मान्यता प्रदान करना और उसे वापस लेना, तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य परिषद को वैधानिक रूप से सौंपे गए हैं। परिषद द्वारा विनियमित शिक्षण संस्थाओं में तीन वर्षों के शिक्षण अनुभव को आवश्यक बताने वाला विनियम भी वैधानिक महत्व रखता है। अधिनियम की व्यवस्थाएँ एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं और उपविनियमन की व्याख्या को स्पष्ट करती हैं। धारा 33 के अंतर्गत परिषद का विनियम इसी पृष्ठभूमि में पढ़ा जाना चाहिए।

यह सीधे उल्लेख किया जा सकता है कि जबकि “चिकित्सा संस्थान” और “स्वीकृत संस्थान” शब्दों को परिभाषित किया गया है (धारा 2 के अनुसार), “शिक्षण अनुभव” और “शिक्षण संस्था” को अधिनियम, नियम या विनियम में परिभाषित नहीं किया गया है। सरल अंग्लो-सैक्सन भाषा, ऐसा माना जाना चाहिए कि इसे आसानी से समझा और व्याख्यायित किया जा सकता है। फिर भी, अधिवक्ताओं ने इन शब्दों के अर्थ पर लंबी बहस की है, हालाँकि हम इन शब्दों की व्याख्या में न तो पुस्तकवादी दृष्टिकोण अपनाने के पक्ष में हैं और न ही कृत्रिम दृष्टिकोण, बल्कि इनके सामान्य और सामान्यतः समझे जाने वाले अर्थ को ध्यान में रखते हुए इसे पढ़ना उचित समझते हैं। स्वाभाविक रूप से यह अपेक्षित होगा कि कोई भी प्राधिकरण (जैसे इस मामले में बिहार सरकार), जब उसे चिकित्सा अधिनियम के संदर्भ में प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या करनी हो और उसे संदेह हो, तो वह उच्च पेशेवर

प्राधिकरण, जिसे वैधानिक दर्जा प्राप्त है, अर्थात् भारतीय चिकित्सा परिषद से परामर्श करे। बार में हल्का संकेत दिया गया कि परिषद ने एक बार दृष्टिकोण व्यक्त किया था, परन्तु कुछ समय बाद उसे थोड़ा संशोधित किया। हम किसी विचलन का पता नहीं पाते और ऐसे अप्रासंगिक मुद्दों में अपने आप को विचलित करने के इच्छुक नहीं हैं। यदि यह सत्य भी होता कि राष्ट्रीय तकनीकी निकाय महत्वपूर्ण अवसरों पर अस्थिर रहते हैं (हालाँकि हमें ऐसा कुछ भी इस मामले में दिखाई नहीं देता), तो इस पर दबाव पड़ने का संदेह उत्पन्न हो सकता है। हम आश्वस्त हैं कि वे स्वयं को इस जोखिम के संपर्क में नहीं आने देंगे। वर्तमान मामले में कहा गया है कि बिहार सरकार ने नीति के तहत भारतीय चिकित्सा परिषद से परामर्श न करने का निर्णय लिया। जबकि नियुक्तिकर्ता प्राधिकरण राज्य सरकार है और अंतिम चयन की जिम्मेदारी उस पर है, यह उचित और विवेकपूर्ण होगा कि जब विवाद के बिंदु तकनीकी प्रकृति के हों, तो उच्च तकनीकी स्तर वाले निकायों या प्राधिकरणों से परामर्श लिया जाए। किसी अन्य से परामर्श करना यह नहीं कि उस पर पूरी तरह आश्रित हो जाए, बल्कि यह केवल सार्वजनिक अधिकार के सावधान प्रयोग में सहायता प्राप्त करने का माध्यम है। हमारा तात्पर्य यह है कि जिन स्पष्ट शब्दों का हमने पहले उल्लेख किया है, जिनके अर्थ को दोनों पक्षों ने विवादित किया है, उन्हें उनके सामान्य अर्थ, वैधानिक परिप्रेक्ष्य, पेशेवर उद्देश्य और मानकों के प्रति आग्रह को ध्यान में रखते हुए पढ़ा जाना चाहिए।

राज्य की ओर से उपस्थित अधिवक्ता श्री जगदीश स्वरूप ने हमें अधिनियम के विभिन्न उपबंधों की ओर इंगित किया तथा इस बात पर बल दिया कि सामान्यतः जिन चिकित्सीय संस्थानों को अधिनियम के अंतर्गत परिकल्पित किया गया है तथा जिन पर परिषद् का नियंत्रण है, वे भारतीय हैं, न कि विदेशी; और इस कारण विवादित विनियमों में उल्लिखित 'शिक्षण संस्थान' तथा 'शिक्षण अनुभव' में भी भारतीय स्वरूप का होना अपेक्षित है। देशभक्ति के प्रश्न से इतर, अधिनियम के प्रावधानों से यह स्पष्ट है कि इसने भारत के बाहर स्थित विश्वविद्यालयों के चिकित्सीय संस्थानों को भी मान्यता प्रदान की है (धारा 12

तथा धारा 14 देखें)। अतः यह प्रश्न इतना सरल नहीं है कि केवल भारत के भौगोलिक मानचित्र के संदर्भ में इसका समाधान कर लिया जाए। यह देश, यद्यपि ब्रिटिश संस्थानों के प्रति औपनिवेशिक श्रद्धा को अस्वीकार करता रहा है, तथापि विदेशों में—विशेषतः यूनाइटेड किंगडम तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में—चिकित्सीय विशेषज्ञताओं में हुई प्रगति को स्वीकार करता एवं सम्मान देता आया है, जिसका प्रतिफल अधिनियम में परिलक्षित होता है। अतः केवल भारत-सीमित व्याख्या असंगत है। इसी प्रकार श्री देसाई द्वारा प्रस्तुत यह तर्क भी समान रूप से अतिवादी एवं अस्थिर है कि किसी भी विदेशी शिक्षण संस्थान से प्राप्त कोई भी शिक्षण अनुभव पर्याप्त माना जाना चाहिए। यदि यह मान लिया जाए कि किसी अत्यंत अल्पविकसित देश, जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से अपरिचित है, से प्राप्त तथाकथित शिक्षण अनुभव को किसी प्रतिष्ठित भारतीय चिकित्सा महाविद्यालय पर थोपा जा सकता है, तो यह स्पष्टतः अस्वीकार्य होगा। उन्नत शिक्षण एवं प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के लिए विख्यात प्रतिष्ठित संस्थानों की उपेक्षा केवल इस आधार पर नहीं की जा सकती कि वे विदेशी हैं। वास्तव में, हमारा कर्तव्य यह है कि अधिनियम की रूपरेखा के भीतर ऐसे दिशानिर्देशों की खोज की जाए, जिनके आधार पर यह निर्धारित किया जा सके कि किन विदेशी चिकित्सीय संस्थानों को मान्यता प्रदान की जा सकती है। यदि ऐसा कोई संबंध स्पष्ट हो जाता है, तो वह अन्यथा अस्पष्ट प्रतीत होने वाले ‘शिक्षण अनुभव’ एवं ‘शिक्षण संस्थान’ जैसे पदों को अर्थपूर्ण बना सकता है। अतः प्रारंभिक स्तर पर हमें अधिनियम में ऐसे संकेतकों की तलाश करनी होगी, जिनके आधार पर यह निर्णय लिया जा सके कि कौन-से विदेशी शिक्षण संस्थान सुरक्षित रूप से विनियमों के दायरे में आ सकते हैं। समग्र उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि भारत को उच्च योग्यता प्राप्त चिकित्सीय शिक्षक उपलब्ध हों, और यह उद्देश्य न तो संकीर्ण स्वदेशी दृष्टिकोण से, और न ही नव-औपनिवेशिक मानसिकता से सिद्ध हो सकता है, बल्कि केवल अधिनियम की भावना एवं प्रावधानों के अनुरूप दृष्टिकोण अपनाने से ही प्राप्त किया जा सकता है। यह तर्क कि केवल भारत स्थित शिक्षण संस्थानों को ही मान्यता दी जा सकती है,

पूर्ववर्ती वाद में उच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया गया था और उसे अस्वीकार कर दिया गया था। राज्य सरकार ने भी वस्तुतः उस निर्णय को स्वीकार कर लिया था, जब उसने डॉ. मुखर्जी के प्रकरण की जांच विनिर्दिष्ट आदेश याचिका 1972 का सी.डब्लू.जे.सी. संख्या 754 में दिए गए निर्देशों के आलोक में की। चूँकि विदेशी शिक्षण संस्थानों को पूर्णतः अपवर्जित नहीं किया गया है, अतः हम उन संस्थानों को सक्षम एवं गुणात्मक रूप से स्वीकार्य मानना उचित समझते हैं, जो अनुसूची-॥ एवं अनुसूची-III में उल्लिखित विश्वविद्यालयों एवं संगठनों से संबद्ध हों अथवा उनके द्वारा शिक्षण संस्थान के रूप में मान्यता प्राप्त हों तथा जिन्हें केन्द्रीय सरकार द्वारा धारा 14 के अंतर्गत मान्यता दी गई हो। शिक्षण संस्थान की संकल्पना, यदि वैश्विक स्तर पर विस्तारित कर दी जाए, तो अत्यधिक व्यापक हो सकती है; किंतु भारतीय चिकित्सा परिषद् अधिनियम, 1956 के परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह उन संस्थानों तक सीमित रहती है, जिन्हें अधिनियम के प्रावधानों द्वारा स्पष्ट रूप से समाविष्ट किया गया है। यदि वे संस्थान धारा 12, 13 तथा 14 जैसे महत्वपूर्ण उद्देश्यों के लिए पर्याप्त माने गए हैं, तो यह निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत है कि वहाँ से अर्जित शिक्षण अनुभव को भी संतोषजनक माना जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण से विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या डॉ. मुखर्जी के प्रमाण-पत्रों में उल्लिखित संस्थान उपर्युक्त मान्य श्रेणियों में आते हैं या नहीं। इसके अतिरिक्त, यह भी परीक्षण किया जाना आवश्यक है कि डॉ. मुखर्जी द्वारा उन संस्थानों में निबंधक के रूप में की गई सेवा भले ही उसे उनके पक्ष में स्वीकार कर लिया जाए क्या वास्तव में 'शिक्षण अनुभव' की श्रेणी में आती है या नहीं। इन दोनों निर्णायक प्रश्नों पर हम उपयुक्त अवसर पर विचार करेंगे।

हम इस बात से सहमत हैं कि 'शिक्षण अनुभव' तथा 'शिक्षण संस्थान' जैसी स्पष्टता से रहित और अस्पष्ट सीमाओं वाली अभिव्यक्तियाँ ही इस विवाद की जड़ रही हैं; तथापि,

जैसा कि *सीफोर्ड कोर्ट एस्टेट्स लिमिटेड बनाम ऐशर'* प्रकरण में माननीय न्यायमूर्ति डेनिंग, एल.जे. द्वारा प्रतिपादित किया गया है:—

“जब किसी विधिक प्रावधान में कोई दोष परिलक्षित होता है, तब कोई न्यायाधीश मात्र हाथ पर हाथ धरे बैठकर उसका दोष विधान-निर्माता अथवा प्रारूपकर्ता पर नहीं डाल सकता। उसे संसद की मंशा को खोजने के रचनात्मक कार्य में प्रवृत्त होना होता है और तत्पश्चात् लिखित शब्दों को इस प्रकार पूरक बनाना होता है कि विधायिका की मंशा को ‘बल एवं जीवन’ प्राप्त हो सके। एक न्यायाधीश को स्वयं से यह प्रश्न करना चाहिए कि यदि अधिनियम के निर्माता स्वयं इसके ताने-बाने में उत्पन्न इस गांठ या असंगति से रूबरू होते, तो वे उसे किस प्रकार सुलझाते। तत्पश्चात् न्यायाधीश को वही करना चाहिए, जो वे करते। यद्यपि न्यायाधीश को उस सामग्री में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए, जिससे अधिनियम का ताना-बाना बुना गया है, किंतु वह उसकी सिलवटों को सीधा कर सकता है और उसे ऐसा करना भी चाहिए।”

हमने उपर्युक्त रूप से अपनाई गई व्याख्या में इन्हीं न्यायिक अभिवेचनाओं से मार्गदर्शन प्राप्त किया है।

पूर्ववर्ती चरण में ‘केवल भारतीय शिक्षण संस्थानों’ से संबंधित तर्क को अस्वीकार किए जाने के पश्चात्, उसका इस बार भी हठधर्मी रूप से पुनरावृत्ति किया जाना खेदजनक है। तथापि, प्रथम उत्तरदाता पर यह दायित्व है कि वह यह स्थापित करे कि उसके द्वारा उल्लिखित संस्थान उसी श्रेणी में आते हैं, जिसकी ओर हमने पूर्व में संकेत किया है। *प्रथम दृष्ट्या* वे संस्थान उस श्रेणी में आते प्रतीत होते हैं और ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे यह संदेह उत्पन्न हो कि उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रमाण-पत्र कपटपूर्वक अथवा बनावटी हैं। जब तक इसके विपरीत कोई तथ्य सिद्ध न हो जाए, तब तक सद्भावपूर्वक कार्य करने वाली

किसी लोक प्राधिकरण द्वारा ऐसे प्रमाण-पत्रों को उनके प्रत्यक्ष मूल्य पर स्वीकार किया जाना चाहिए।

निर्धारित अवधि का शिक्षण अनुभव भी अर्हताओं का एक आवश्यक घटक है। प्रथम उत्तरदाता तीन वर्षों तक निबंधक के पद पर कार्यरत रहा। किंतु प्रश्न यह है कि क्या उसने उस अवधि के दौरान शिक्षण कार्य भी किया था। यदि उसके द्वारा प्रस्तुत प्रमाण-पत्रों का अवलोकन किया जाए, जो प्रोफेसर डॉ. रॉबर्ट रोफ तथा प्रोफेसर डॉ. ज्योफ्री ऑसबोर्न जैसे प्रतिष्ठित शिक्षकों द्वारा निर्गत किए गए हैं, तो इसका उत्तर सकारात्मक प्रतीत होता है। तथापि, अपीलकर्ताओं द्वारा इन प्रमाण-पत्रों की विश्वसनीयता को चुनौती दी गई है। वर्तमान में अभिलेख पर कुल छह प्रमाण-पत्र उपलब्ध हैं, जिनमें यह उल्लेखित है कि प्रथम उत्तरदाता ने निबंधक के रूप में रहते हुए शिक्षण कार्य में भाग लिया था। यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि ऐसे शल्य चिकित्सकों को साक्ष्य हेतु पटना में प्रस्तुत किया जाए, और जब तक प्रमाण-पत्रों की सत्यता के विरुद्ध कोई गंभीर परिस्थिति विद्यमान न हो, तब तक निष्पक्ष एवं विवेकशील प्रशासक, विशेषज्ञ परामर्श के उपरान्त, उन पर अवलम्बन कर सकते हैं। हमें यह पूर्ण विश्वास है कि सरकार इस प्रकरण में निष्पक्षता एवं न्यायसंगत आचरण से विमुख नहीं होगी और न ही केवल प्रतिष्ठा के प्रश्न पर अपने पूर्ववर्ती रुख पर अडिग रहकर इस विषय में अनुचित दृष्टिकोण अपनाएगी।

राज्य द्वारा यह सुझाव दिया गया है कि विदेशों में स्थित प्रोफेसरों से कुछ स्पष्टीकरणात्मक प्रमाण-पत्र बाद के चरण में प्राप्त किए गए हो सकते हैं। स्थिति को स्पष्ट करने हेतु ऐसे प्रमाण-पत्र प्राप्त किए जाने में कोई त्रुटि नहीं है, और ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में अस्थिर रोग विशेषज्ञ विषय के ऐसे उत्कृष्ट एवं प्रतिष्ठित प्रोफेसरों द्वारा निर्गत इन प्रमाण-पत्रों में हमें किसी प्रकार का असामान्य पक्षपात परिलक्षित नहीं होता।

सरल प्रश्न यह है कि क्या याचिकाकर्ता के समान निबंधक के पद पर कार्यरत व्यक्ति ने शिक्षण अनुभव अर्जित किया था अथवा वह ऐसा कर सकता था। उन दस्तावेजों की भाषा

के आधार पर कुछ सीमित संदेह अवश्य उत्पन्न होता है, इस अर्थ में कि यह कहा गया है कि उसने शिक्षण कार्य में 'भाग लिया' अथवा 'सहायता की'। स्वाभाविक रूप से, प्रतिपक्ष की दलील यह है कि 'सहायता करना' या 'भाग लेना', 'वास्तविक शिक्षण' से भिन्न है। यद्यपि हम ऐसी दलील को सहज रूप से स्वीकार करने में संकोच करते हैं, तथापि यह विषय अंतिम रूप से हमारे द्वारा निर्णीत किए जाने योग्य नहीं है, क्योंकि यह मूलतः एक तकनीकी प्रश्न है। वास्तव में, हमने स्वयं को इस प्रश्न पर अंतिम निर्णय देने से विरत रखा है कि जिन संस्थानों में डॉ. मुखर्जी ने कार्य किया, वे शिक्षण संस्थान हैं अथवा नहीं, तथा यह भी कि जिस निबंधक पद पर उन्होंने कार्य किया, उससे उन्हें अपेक्षित शिक्षण अनुभव प्राप्त हुआ या नहीं। ये दोनों प्रश्न नियुक्ति प्राधिकारी द्वारा निर्धारित किए जाने हैं। न्यायालय न तो याचिकाकर्ताओं को उन पदों पर नियुक्त करता है, जिनका वे दावा करते हैं, और न ही ऐसा कर सकता है; अपितु न्यायालय का कार्य विधिक मानदंडों को निर्धारित करना तथा समुचित निर्देश देना है। नियुक्ति की शक्ति राज्य के कार्यपालिका अंग में निहित है, जिसे उन विधिक निर्देशों के अनुरूप ही उसका प्रयोग करना होता है। राज्य सरकार, जो कि उक्त प्राधिकारी है, को ही इस विषय में अंतिम निर्णय लेना होगा।

राज्य की ओर से प्रस्तुत अधिवक्ता की इस शिकायत में कुछ बल है कि मात्र इस आधार पर कि किसी आदेश को चुनौती देते हुए एक विनिर्दिष्ट आदेश याचिका दायर की गई है, न्यायालय को सामान्यतः मंत्रिमंडलीय पत्रावलियों को तलब कर उनके भीतर किए गए टिप्पणियों एवं विभिन्न अधिकारियों के प्रतिवेदन की जांच-पड़ताल प्रारंभ नहीं करनी चाहिए। यद्यपि जब उत्प्रेषण की रिट प्रस्तुत की जाती है, तब न्यायालय को अभिलेख तलब करने की शक्ति प्राप्त होती है, तथापि ऐसे मामलों में, जहाँ दुर्भावना का आरोप नहीं लगाया गया हो अथवा अन्य कोई विशेष परिस्थिति स्थापित न की गई हो, सरकार के आधिपत्य में उपलब्ध संवेदनशील अभिलेखों को नियमित रूप से तलब किया जाना उपयुक्त नहीं है। न्यायालय की शक्ति व्यापक अवश्य है, किंतु उसका प्रयोग न्यायिक विवेक एवं संयम के साथ, समस्त

परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए किया जाना आवश्यक है, जिसमें यह अनुचितता भी सम्मिलित है कि प्रत्येक असंतुष्ट पक्षकार को सरकारी अभिलेखों में झांकने का अवसर प्रदान कर दिया जाए। यह भी सत्य है कि लोक प्राधिकरणों के कार्य सामान्यतः सार्वजनिक परीक्षण के अधीन होने चाहिए और उन्हें संदेहास्पद गोपनीयता की आड़ में नहीं रखा जाना चाहिए। वर्तमान प्रकरण में हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते कि उच्च न्यायालय को अनिवार्य रूप से मंत्रिमंडलीय अभिलेखों एवं पूर्ववर्ती पत्रावलियों का अवलोकन करना ही चाहिए था; तथापि, इस प्रश्न पर विस्तार से तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया है, सिवाय इसके कि यह संकेत मात्र दिया गया कि ऐसा करना न्यायोचित नहीं था, यद्यपि राज्य सरकार द्वारा न्यायालय के निर्देश पर वे दस्तावेज़ प्रस्तुत कर दिए गए थे। इन कारणों से, हम इस विषय को यहीं विराम देते हैं।

आरोपित दुर्बलताएँ समग्र रूप से किस निष्कर्ष की ओर संकेत करती हैं? राज्य की ओर से अधिवक्ता श्री जगदीश स्वरूप ने उचित ही इस तथ्य पर बल दिया कि जब नियुक्ति करने का अधिकार सरकार में निहित है, तब न्यायालय उस अधिकार का अतिक्रमण केवल इस आधार पर नहीं कर सकता कि वह किसी अन्य व्यक्ति को अधिक योग्य मानता है अथवा विनियम की भिन्न व्याख्या या अधिक सूक्ष्म अर्थग्रहण करना उचित समझता है। ऐसे आधार जैसे कि प्रासंगिक परिस्थितियों की उपेक्षा की गई, अप्रासंगिक कारकों को महत्व दिया गया, अथवा इसी प्रकार के अन्य तर्क—अक्सर पक्षकारों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन असाधारण अधिकार-क्षेत्र को आमंत्रित करने के लिए गढ़े जाते हैं। यह सत्य है कि किसी सरकारी सेवक की नियुक्ति करते समय अनिवार्यतः कारण-सहित आदेश पारित किया जाना आवश्यक नहीं होता। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से इन प्रस्तावनाओं पर गंभीर विचार किया जा सकता है, तथापि प्रशासन को अपनी सामान्य नियुक्ति प्रक्रिया केवल इस कारण बाधित नहीं किया जाना चाहिए कि वह न्यायालय की व्यक्तिगत रुचि के अनुकूल नहीं है अथवा न्यायालय अभ्यर्थियों की आपसी योग्यता के मूल्यांकन से सहमत नहीं है। विचारणीय

प्रश्न यह है कि क्या किसी मूल अधिकार का उल्लंघन हुआ है, कोई अवैधता विद्यमान है, अथवा विधि की ऐसी कोई त्रुटि है जो नियुक्ति को दोषपूर्ण बना दे। डॉ. मुखर्जी द्वारा दावा की गई कथित विशिष्ट योग्यताओं की उपेक्षा यदि नियुक्ति प्राधिकारी द्वारा अनुचित रूप से की गई हो तो वह न्यायालय का विषय नहीं, बल्कि सार्वजनिक असंतोष अथवा व्यक्तिगत अन्याय का विषय हो सकती है, जब तक कि दुर्भावना, परोक्ष उद्देश्य अथवा विधिक त्रुटि का कोई प्रमाण प्रस्तुत न किया जाए। ऐसी स्थिति में उपचार न्यायिक पुनरावलोकन नहीं, बल्कि वे अन्य लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ हैं, जो किसी भी प्रशासन एवं उसके अधिकारियों के कृत्यों पर नियंत्रण एवं दंड का प्रावधान करती हैं। न्यायालय का कार्य तुलनात्मक मूल्यांकन करना नहीं, बल्कि केवल विधिक त्रुटियों का परीक्षण एवं निर्णय करना है।

इस परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर प्रश्न यह उठता है कि क्या उच्च न्यायालय द्वारा विनिर्दिष्ट आदेश जारी किया जाना उचित था। हम यह कहने के लिए प्रवृत्त हैं कि 'हाँ'। निःसंदेह, पदों पर की जाने वाली नियुक्तियाँ अनिवार्य रूप से कारण-सहित आदेशों अथवा विस्तृत तर्कयुक्त आधारों के साथ नहीं की जातीं। यदि ऐसा अनिवार्य कर दिया जाए, तो सरकार की कार्यप्रणाली जो अन्यथा भी शिथिल मानी जाती है पूरी तरह ठप हो जाएगी। इसके अतिरिक्त, संवैधानिक संस्थाओं के मध्य सौहार्द का सिद्धांत वहाँ अमित्रवत हस्तक्षेप को निषिद्ध करता है, जहाँ अधिकार-क्षेत्र का अस्तित्व स्पष्ट रूप से स्थापित न हो। इन संस्थागत कार्य-व्यवस्थागत समझौतों को स्वीकार करते हुए भी यह प्रश्न शेष रहता है कि क्या न्यायालय ने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण किया है। हमारा उत्तर नकारात्मक है, और इसके कारण हम आगे स्पष्ट करेंगे।

यद्यपि प्रत्येक त्रुटिपूर्ण सरकारी आदेश में अतिसक्रिय हस्तक्षेप करना उचित नहीं है, तथापि वर्तमान प्रकरण में प्रथम उत्तरदाता ने उन विनियमों के उल्लंघन की शिकायत की है, जो राज्य एवं नागरिक—दोनों पर समान रूप से बाध्यकारी हैं। यद्यपि राज्य पर प्रत्येक स्थिति में नियुक्ति हेतु कारण-सहित आदेश पारित करने का दायित्व नहीं होता, तथापि

आदेश को विनियमों के अनुरूप प्रासंगिक कारणों से प्रेरित होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, संविधान के अनुच्छेद 14 एवं 16 में निहित 'समान अवसर के अधिकार' में यह दायित्व अंतर्निहित है कि प्रत्येक योग्य अभ्यर्थी पर विचार किया जाए। यदि कोई आवेदक विनियमों के अंतर्गत पात्रता रखता है, तो उसे विचार के क्षेत्र से पूर्णतः बाहर कर देना अवैध होगा। तुलनात्मक मूल्यांकन से ही इंकार कर देना—अर्थात् किसी अभ्यर्थी को प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र से ही बाहर कर देना—एक अत्यंत कठोर कदम है, और ऐसे कदम के लिए अभिलेख पर स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष आधारों का विद्यमान होना अनिवार्य है। चूँकि यही विधिक परिप्रेक्ष्य है, अतः अब हम इन्हीं मानकों के आलोक में वर्तमान सरकारी आदेश की कसौटी पर परीक्षा करेंगे।

अपीलकर्ता राज्य द्वारा प्रस्तुत स्पष्टीकरणात्मक शपथपत्र तथा न्यायालय के समक्ष निष्पक्ष रूप से प्रस्तुत किए गए अभिलेख यह उद्घाटित करते हैं कि सरकार ने इस विषय में एक असंगत एवं अस्पष्ट दृष्टिकोण अपनाया है। प्रश्न यह है कि क्या सरकार ने डॉ. मुखर्जी को केवल इस आधार पर प्रारंभिक स्तर पर ही अस्वीकार कर दिया कि उनके पास किसी भारतीय शिक्षण संस्थान में प्राप्त भारतीय शिक्षण अनुभव नहीं था। श्री जगदीश स्वरूप की दलील यह है कि ऐसा अनुभव अनिवार्य है। यदि ऐसा है, तो हमारे द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार विनियमों का उल्लंघन किया गया है। यदि इस आधार पर राज्य का पक्ष असफल हो जाता है, तो वह एक अन्य आधार का सहारा लेता है, अर्थात् यह कि डॉ. मुखर्जी का विदेशी अनुभव किसी अनुमोदित शिक्षण चिकित्सालय से प्राप्त होना सिद्ध नहीं किया गया है। यह तर्क भले ही चतुर प्रतीत हो, किंतु सरल एवं स्पष्ट प्रशासनिक आचरण के अनुरूप नहीं है। न्यायालय में चतुराई प्रदर्शित करना, प्रशासन में विधिक शुद्धता के समतुल्य नहीं हो सकता। प्रथम उत्तरदाता के पद हेतु दावे पर विधिक दृष्टिकोण से विचार ही नहीं किया गया है।

सरकार का यह कर्तव्य था कि वह युक्तिसंगत सामग्री के आधार पर इस विषय में स्वयं को संतुष्ट करे कि— (क) प्रथम उत्तरदाता द्वारा अवलंबित यूनाइटेड किंगडम के चिकित्सालय, हमारे द्वारा अधिनियम की भावना के अध्ययन के पश्चात् की गई व्याख्या के

अनुरूप, शिक्षण संस्थान हैं; (ख) जिन निबंधक पदों पर उसने तीन वर्षों तक कार्य किया, वे शिक्षण दायित्वों से युक्त थे—इस प्रश्न का परीक्षण निष्पक्ष रूप से किया जाना चाहिए था, न कि ‘शिक्षण में भाग लेना’ जैसे शब्दों की भाषिक सूक्ष्मताओं पर आधारित अनावश्यक तर्क-वितर्क एवं शब्द-चातुर्य के माध्यम से; (ग) किसी भी ब्रिटिश (या उस विषय में भारतीय) अस्थि रोग विशेषज्ञ प्रोफेसर द्वारा प्रदत्त प्रमाण-पत्र अथवा लिखित साक्ष्य को उसके प्रत्यक्ष मूल्य पर स्वीकार किया जाना चाहिए, जब तक कि ऐसे दस्तावेज़ पर कोई गंभीर संदेह न हो, क्योंकि उच्च पदस्थ शिक्षाविदों को स्पष्ट विपरीत संकेतों के अभाव में सत्यनिष्ठ माना जाना चाहिए; तथा (घ) प्रथम उत्तरदाता के किसी भी भारतीय अनुभव पर भी विचार किया जाना चाहिए, बशर्ते वह विनियम में निहित द्विविध परीक्षणों की कसौटी पर खरा उतरता हो। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राज्य सरकार ने डॉ. मुखर्जी के मामले को प्रारंभिक स्तर पर ही छँटनी के माध्यम से संक्षेप में निस्तारित कर दिया। सरकार द्वारा विभिन्न चरणों में किए गए टिप्पणियाँ, प्रतिवेदन एवं डगमगाते मत हमें अधिक समय तक विमर्श हेतु नहीं रोकते, क्योंकि वे किसी भी प्रशासनिक निर्णय की सहगामी प्रक्रिया मात्र हैं और न्यायालय द्वारा उन्हें संदेहपूर्ण दृष्टि से देखे जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रशासनिक कार्यप्रणाली भले ही विधिक मंचों की न्यायिक प्रक्रियाओं से भिन्न हो, किंतु मात्र इसी कारण उसे संदिग्ध नहीं ठहराया जा सकता।

हम पूर्व में यह अवलोकन कर चुके हैं कि *प्रथम दृष्ट्या* प्रथम उत्तरदाता पात्र एवं उच्च योग्य प्रतीत होता है; तथापि, यह भी संभव है कि दृष्टिगोचर तथ्यों से परे अन्य पहलू विद्यमान हों। सरकार को वास्तविक योग्यताओं के विषय में जाँच कर स्वयं को संतुष्ट करने का अधिकार एवं दायित्व प्राप्त है। न्याय के हित में तथा इस प्रश्न पर प्रशासनिक स्तर पर विद्यमान अस्पष्ट एवं अनिश्चित चिंतन को दृष्टिगत रखते हुए, हम यह आवश्यक समझते हैं कि अभ्यर्थियों को जनवरी, 1975 के अंत तक का समय प्रदान किया जाए, ताकि हमारे द्वारा की गई व्याख्या के अनुरूप शिक्षण संस्थानों में प्रथम उत्तरदाता के शिक्षण अनुभव के संबंध

में साक्ष्य प्रस्तुत किए जा सकें। सरकार समस्त अभ्यर्थियों की योग्यताओं तथा आपसी तुलनात्मक उपयुक्तता पर निष्पक्ष विचार करेगी। शिक्षण अनुभव की अवधि निश्चय ही एक प्रासंगिक—परंतु आवश्यक रूप से प्रमुख नहीं—कारक होगी। अनुभव की गुणवत्ता, शैक्षणिक उपलब्धियाँ, संबंधित विशेषता में विद्यार्थियों को प्रेरित करने की बौद्धिक क्षमता, तथा पूर्व छात्रों में अनुसंधानपरक जिज्ञासा का संचार करने की संभावना—ये सभी महत्वपूर्ण तत्व सार्वजनिक हित की अभिवृद्धि करेंगे, विशेषकर ऐसे देश में जहाँ प्रतिभाशाली चिकित्सकों की अत्यधिक आवश्यकता है। हमें यह पूर्ण विश्वास है कि सरकार की एकमात्र चिंता सार्वजनिक हित में सर्वाधिक सक्षम व्यक्ति का चयन करना होगा, और इस सदाशय अपेक्षा के विफल न होने की आशा के साथ, हम अब उपयुक्त घोषणाएं एवं निर्देश पारित करने की ओर अग्रसर होते हैं।

हम 1974 का दीवानी अपील संख्या 1431 में अपीलकर्ताओं की नियुक्ति संबंधी आदेशों को विधि-विरुद्ध घोषित करते हैं तथा 1974 का दीवानी अपील संख्या 1430 में अपीलकर्ताओं को निर्देश देते हैं कि वे प्रवक्ता के दो पदों पर की गई नियुक्तियों पर नवसिरे से पुनर्विचार करें। ऐसा करते समय राज्य सरकार उपर्युक्त किए गए निष्कर्षों एवं अवलोकनों के अनुरूप कार्य करेगी। संबंधित विनियम के आधार पर प्रथम उत्तरदाता की पात्रता की पुनः जाँच 15 फरवरी, 1975 से पूर्व की जाएगी, तथा पक्षकारों विशेष रूप से प्रथम उत्तरदाता—को यह स्वतंत्रता होगी कि वे 31 जनवरी, 1975 तक राज्य सरकार को उसकी योग्यताओं (या उनके अभाव) के संबंध में संतुष्ट करने हेतु आवश्यक सामग्री प्रस्तुत कर सकें। राज्य सरकार निर्णय पर पहुँचने से पूर्व, यदि आवश्यक समझे, तो अपने स्तर से तकनीकी प्राधिकारियों से परामर्श लेने के लिए स्वतंत्र होगी। हम प्रशासन के इस अधिकार को प्रतिबंधित नहीं करते कि वह इस विषय में यथासंभव शीघ्र निर्णय ले, बशर्ते कि स्थिति से निष्पक्ष रूप से निपटा जाए, क्योंकि नियुक्तियों का शीघ्र अंतिम रूप से निर्धारण किया जाना ही सर्वाधिक उपयुक्त है। यद्यपि हमने व्यापक दृष्टिकोण का संकेत दे दिया है, तथापि दो पदों के लिए अंतिम चयन

करते समय समस्त प्रासंगिक तथ्यों पर विचार करना तथा अप्रासंगिक विषयों को अपवर्जित करना राज्य सरकार के अधिकार एवं दायित्व के अंतर्गत है। यह स्पष्ट किया जाता है कि राज्य सरकार पर कोई कारण-सहित आदेश पारित करने का अनिवार्य दायित्व नहीं है, यद्यपि ऐसा करने में कोई विधिक बाधा भी नहीं है। अपीलें निरस्त की जाती हैं; तथापि, हम इस तथ्य पर अपनी व्यथा व्यक्त करते हैं कि युवा विशेषज्ञों से संबंधित दो चरणों की न्यायिक कार्यवाहियों में लगभग तीन वर्षों का समय व्यतीत हो जाने के कारण चिकित्सा महाविद्यालयों में नियुक्तियाँ लंबित रहीं, जिससे चिकित्सीय पाठ्यक्रमों की प्रक्रिया बाधित हुई और विद्यार्थियों के हित प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए—यह एक ऐसा सामाजिक-विधिक परिघटनाक्रम है, जिसकी गहन समीक्षा अपेक्षित है। अतः, सरकार का यह कर्तव्य होगा कि अभ्यर्थियों द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली किसी भी सामग्री की प्राप्ति के पश्चात नवीन नियुक्ति करने में अनावश्यक विलंब न करे। उपर्युक्त अवलोकनों के साथ, अपीलें लागत सहित निरस्त की जाती हैं, लागत केवल राज्य के विरुद्ध तथा केवल उत्तरदाता डॉ. मुखर्जी के पक्ष में प्रदान की जाती है।

पीबीआर.

याचिका खारिज कर दी गई।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता । समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।